भारतीय ज्ञान प्रणाली उद्गम और विकास

सम्पादक :
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय ज्ञान प्रणाली उद्गम और विकास

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
Books n Books
51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001
ई-मेल : bnbajmer@gmail.com
मो. 9660111549

संस्करण
प्रथम 2026

ISBN : 978-81-993854-1-2

मूल्य - 400/-

रचना - भारतीय ज्ञान प्रणाली-उद्गम और विकास

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

आवरण - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

मुद्रक
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

7

भारतीय ज्ञान परम्परा और वर्णोच्चारण शिक्षा

डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय ज्ञान-परम्परा में भाषा केवल संवाद का साधन नहीं है, अपितु वह ब्रह्म तक पहुँचने का माध्यम मानी गई है। इसी कारण वर्ण, अक्षर और उनके शुद्ध उच्चारण पर अत्यन्त सूक्ष्म और गहन विचार किया गया है। व्याकरण, शिक्षा और निरुक्त जैसे शास्त्रों में वर्णोच्चारण को स्वतंत्र विद्या का रूप प्राप्त है।

प्रश्न उठता है कि वर्ण अथवा अक्षर किसे कहते हैं। इस विषय में महाभाष्य में कहा गया है— **'अक्षरं न क्षरं विद्याद् अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्।'**

अर्थात् जो नष्ट नहीं होता, जो क्षर नहीं है, वही अक्षर है। मनुष्य को चाहिए कि वह प्रयत्नपूर्वक उन तत्वों को जाने जिन्हें पूर्वसूत्रों में वर्ण अथवा अक्षर कहा गया है। यहाँ अक्षर को नित्य, अविनाशी और सर्वव्यापक माना गया है। इसी कारण अक्षर केवल ध्वनि नहीं, बल्कि शाश्वत सत्ता का संकेतक है।

प्राचीन शास्त्रीय परम्परा में 'अथ' शब्द का प्रयोग किसी शास्त्र या विषय के प्रारम्भ का सूचक होता था। जैसे पाणिनि की अष्टाध्यायी का आरम्भ 'अथ शब्दानुशासनम्' से होता है, उसी प्रकार 'अथ वर्णोच्चारण-शिक्षा' से यह विषय आरम्भ होता है। इससे स्पष्ट होता है कि वर्णोच्चारण की शिक्षा को स्वतंत्र और महत्त्वपूर्ण शास्त्र के रूप में स्वीकार किया गया है। **'वर्णानाम् उच्चारणं वर्णोच्चारणम्'** वर्णों के उच्चारण को वर्णोच्चारण कहा गया है और उसी की शिक्षा वर्णोच्चारण-शिक्षा कहलाती है। यह षष्ठी तत्पुरुष समास है, जिससे शास्त्रीय परिभाषा की स्पष्टता सिद्ध होती है।

शिक्षा शास्त्र का उद्देश्य वर्णों के स्थान, करण और प्रयत्न के अनुसार उनके शुद्ध और यथार्थ उच्चारण का विधान करना है। किस वर्ण का उच्चारण कंठ से होगा, किसका तालु से, किसमें स्पर्श है और किसमें केवल वायुप्रवाह— इन सबका वैज्ञानिक विवेचन शिक्षा शास्त्र करता है। इसी कारण इसे वाणी की शुद्धता और

वेदपाठ की आधारशिला कहा गया है।

'अक्षर' शब्द का प्रयोग वैदिक और भाष्य परम्परा में व्यापक रूप से मिलता है। 'अक्षरसमाम्नाय' जैसे प्रयोगों में तथा 'यो वा इमां पदश: स्वरशोऽक्षरशश्च वाचं विदधाति' जैसे श्रुति-वाक्यों में अक्षर शब्द स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के मन्त्र 'ऋचो अक्षरे परमे व्योम' में भी अक्षर को परम व्योम में स्थित कहा गया है। इससे यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि यह अक्षर क्या है।

यास्काचार्य ने निरुक्त में अक्षर का निर्वचन करते हुए कहा है— 'न क्षरति न क्षीयते', अर्थात् जो न तो बहता है और न ही नष्ट होता है, वही अक्षर है। यह निर्वचन शब्दब्रह्म और परब्रह्म— दोनों स्तरों पर लागू होता है, क्योंकि दोनों को नित्य और अविनाशी माना गया है। इस प्रकार अक्षर केवल ध्वनि न रहकर ब्रह्मतत्त्व से जुड़ जाता है।

उणादि सूत्रों में 'अश्नोतेर्वा' से अक्षर की व्युत्पत्ति की गई है। इस पर भट्टोजी दीक्षित ने 'प्रौढ़ मनोरमा' में विस्तार से विचार किया है और यह स्पष्ट किया है कि वेद में 'अक्षर' शब्द सर्वत्र मध्योदात्त स्वर में ही प्रयुक्त होता है। भाष्यकार द्वारा उद्धृत मत लोकवार्तिक पर आधारित है, और कैयट आदि आचार्यों ने भी 'सरन्' प्रत्यय-पाठ को ही स्वीकार किया है। पञ्चपादी और दशपादी— दोनों उणादि पाठों में 'सरन्' प्रत्यय का ही प्रयोग मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अक्षर की स्वर-सिद्धि और व्युत्पत्ति अत्यन्त सूक्ष्म व्याकरणिक नियमों से नियंत्रित है।

अब प्रश्न यह है कि इन वर्णों और अक्षरों का उपदेश क्यों किया जाता है। इस पर महाभाष्य में कहा गया है कि वर्णज्ञान वही है जिसमें वाणी का विषय और ब्रह्म— दोनों प्रतिष्ठित हों। जहाँ शब्दब्रह्म रूप वेद और परब्रह्म— दोनों की प्राप्ति होती है, वही वर्णज्ञान का परम उद्देश्य है। इसीलिए अक्षरों का उपदेश इस भावना से किया जाता है कि मनुष्य को वर्णों का यथार्थ, अभीष्ट ज्ञान प्राप्त हो और अल्प प्रयत्न से महान फल की सिद्धि हो सके।

अक्षरों का यह समाम्नाय वाक्समाम्नाय कहलाता है। यह शब्दरूपी पुष्पों और फलों से युक्त, चन्द्रमा और ताराओं से सुशोभित आकाश के समान अलंकृत ब्रह्मराशि है। यह जानने योग्य है, क्योंकि इसके सम्यक् ज्ञान से सम्पूर्ण वेदों का पुण्यफल प्राप्त होता है। वर्णों के शुद्ध और सही उच्चारण से न केवल श्रवण में माधुर्य उत्पन्न होता है, बल्कि भ्रम, अशुद्धि और अर्थ-विकृति का भी निवारण होता है।

पूर्व आचार्यों के मत में 'अक्षर' और 'वर्ण' में कोई भेद नहीं है। वे अक्षर को ही वर्णों की पारिभाषिक संज्ञा मानते हैं। इसी परम्परा का उल्लेख करते हुए भर्तृहरि ने पूर्वाचार्यों के सूत्र को उद्धृत किया है— 'वर्णा अक्षराणि'। इससे यह सिद्ध होता है

कि प्राचीन वैयाकरणों की दृष्टि में वर्ण और अक्षर परस्पर पर्याय हैं। महाभाष्य में 'पूर्वसूत्र' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है, जैसे 1/2/68, 4/1/14, 6/1/163, 7/1/18 तथा 8/4/7। इन सभी स्थानों पर 'पूर्वसूत्र' का अभिप्राय प्राचीन वैयाकरणों द्वारा प्रतिपादित सूत्रों से है, न कि किसी लौकिक या सामान्य कथन से। इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्ण-अक्षर सम्बन्धी यह धारणा एक सुदृढ़ और स्थापित शास्त्रीय परम्परा पर आधारित है।

वर्णों का ज्ञान वाणी का विषय है। वाणी पद और वाक्य के रूप में बँधकर ही व्यक्त होती है, और उसी वाणी में ब्रह्म—अर्थात् वेदज्ञान—निवास करता है। इसका तात्पर्य यह है कि समस्त ज्ञान का आश्रय वाणी है, और क्योंकि वाणी वर्णात्मक है, इसलिए वर्ण उसकी मूल इकाई हैं। इन्हीं वर्णों के यथार्थ परिज्ञान के लिए उनका उपदेश किया जाता है। यहाँ 'इष्टबुद्धि' का अर्थ है यथार्थ और दोषरहित ज्ञान, क्योंकि न्यायशास्त्र के अनुसार बुद्धि और ज्ञान में तत्त्वत: कोई भेद नहीं है। साथ ही, लाघव—अर्थात् अल्प साधनों से अधिक अर्थ प्रकट करने की क्षमता—भी इस उपदेश का एक प्रमुख उद्देश्य है।

अक्षरों का यह समाम्नाय वास्तव में वाणी का ही समाम्नाय है। यह पुष्पित और फलित है, अर्थात् शब्दरूपी पुष्पों और अर्थरूपी फलों से युक्त है। यह चन्द्र और ताराओं के समान स्वरों और व्यञ्जनों से सुशोभित है। यही ब्रह्मराशि, शब्दब्रह्मराशि अथवा वेदराशि है, जिसे जानना आवश्यक और कल्याणकारी माना गया है। इसके यथार्थ ज्ञान से समस्त वेदों के पुण्यफलों की प्राप्ति होती है। शास्त्रीय परम्परा में यहाँ तक कहा गया है कि अक्षरसमाम्नाय के ज्ञाता के माता-पिता भी स्वर्गलोक में पूजित होते हैं। इससे इस विद्या की महिमा और गरिमा का बोध होता है।

विवेचन करने पर यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि मानव-ज्ञान का मूल आधार वाक् है। वाणी के माध्यम से ही मनुष्य अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा अत्यन्त महान् से महान् भावों को प्रकट करने में समर्थ होता है। मानव-वाक् वर्णमूलक है और वर्ण उसकी इकाई हैं। इसलिए यदि वर्णों का यथावत् प्रयोग किया जाए तो यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है, और यदि उनका प्रयोग अशुद्ध हो जाए तो अर्थ भी विकृत हो जाता है। उदाहरण के रूप में 'अस्वो देवदत्त:' का वाक्य लें, जिसका अर्थ है—धनरहित देवदत्त। यदि प्रमादवश दन्त्य 'स' के स्थान पर तालव्य 'श' का प्रयोग कर दिया जाए और 'अश्वो देवदत्त:' कहा जाए, तो अर्थ पूरी तरह बदलकर 'घोड़े वाला देवदत्त' या 'घोड़ा लाओ' जैसे अर्थ में चला जाता है। इससे स्पष्ट है कि वर्णों का सूक्ष्म भेद भी अर्थ में कितना बड़ा परिवर्तन कर सकता है। अत: इष्टबुद्धि-ज्ञान के लिए शब्दों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान अनिवार्य है।

भर्तृहरि आदि व्याख्याताओं ने इस सिद्धान्त की व्याकरणशास्त्रीय व्याख्या करते हुए कहा है कि 'वर्णज्ञानम्' वह शास्त्र है जिसके द्वारा वर्णों का ज्ञान होता है। यह शास्त्र 'वाग्विषय:' है, अर्थात् वाणी को अनुशासित और नियंत्रित करने वाला है, क्योंकि वाणी का सम्यक् परिज्ञान शास्त्र के माध्यम से ही सम्भव है। जिस पदरूप वाणी में ब्रह्म—अर्थात् वैदिक और लौकिक शब्दरूप ज्ञान—निहित है, वही इस शास्त्र का विषय है। इस शास्त्र की प्रवृत्ति इसलिए है कि दोषरहित, अभीष्ट वर्णों का परिज्ञान हो सके और अनुबन्धों के प्रयोग से लाघवपूर्वक उपदेश दिया जा सके।

'सोऽयमक्षरसमाम्नाय:' यह वाक्य अक्षरसमाम्नाय की प्रशंसा में कहा गया अर्थवाद है। मीमांसा के अनुसार अर्थवाद अपने शब्दार्थ में स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं रखता, उसका उद्देश्य विधिवाक्य की स्तुति करना होता है। इसलिए अक्षरसमाम्नाय के ज्ञान से समस्त वेदफलों की प्राप्ति या ज्ञाता के माता-पिता का स्वर्ग में पूजित होना यथार्थ फलविधान नहीं है, बल्कि 'अक्षरसमाम्नायो वेदितव्य:' इस विधिवाक्य की महिमा प्रकट करने के लिए कहा गया है। आशय यह है कि अक्षरसमाम्नाय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अवश्य जानने योग्य है।

'पुष्पित:' और 'फलित:' वेदराशि के विशेषण हैं। इनका अर्थ केवल लौकिक सुख और मोक्ष नहीं है, जैसा कि कुछ व्याख्याकार मानते हैं। निरुक्तकार यास्क के अनुसार वाणी का वास्तविक पुष्प और फल अर्थज्ञान है। अत: वेदरूप वाणी के पुष्प और फल क्रमश: यज्ञ, देवता और अध्यात्म से सम्बन्धित ज्ञान हैं। इस प्रकार यहाँ पुष्पित-फलित का अभिप्राय है कि वेदराशि पदार्थविज्ञान और अध्यात्मविज्ञान—दोनों से सम्पन्न है। वेद के विषय भी अधियज्ञ, अधिदैवत और अध्यात्म—यही तीन माने गए हैं।

'चन्द्रतारकवत्' पद के द्वारा वाणी और वाग्व्यवहार के नित्यत्व की ओर संकेत किया गया है। जैसे चन्द्रमा और तारे निरन्तर आकाश में स्थित रहते हैं, वैसे ही वाणी और उसके वर्ण भी अनादि और नित्य माने गए हैं। आधुनिक मीमांसक और जैन दर्शन में भी सृष्टि को अकर्तृक और अनादि स्वीकार किया गया है।

वर्णों का रूप किस प्रकार प्रकट होता है, इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन आचार्यों ने ध्वनिविज्ञान और आध्यात्मिक चिन्तन—दोनों के समन्वय से दिया है। आकाश और वायु के संयोग से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वही नाद कहलाती है। यह नाद नाभि के नीचे से उत्पन्न होकर ऊपर की ओर उठता है और मुख तक पहुँचता है। जब यही नाद कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ आदि विभिन्न उच्चारण-स्थानों में विभक्त होता है, तब वह वर्ण-भाव को प्राप्त करता है। इस प्रकार अविभक्त नाद, स्थान-विशेष में विभाजन के द्वारा शब्द और वर्ण के रूप में प्रकट होता है।

इस प्रक्रिया का सूक्ष्म आन्तरिक स्वरूप और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जीवात्मा पहले बुद्धि के साथ अर्थों का संयोग करता है। जब बोलने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब मन सक्रिय होता है। मन जाठराग्नि को उद्दीप्त करता है, उससे वायु प्रेरित होती है, और वही वायु उर:प्रदेश में संचरण करती हुई मन्द स्वर को उत्पन्न करती है। यही स्वर आगे चलकर नाद, शब्द और अन्तत: वर्ण के रूप में व्यक्त होता है। इस प्रकार शब्द का उद्भव केवल शारीरिक क्रिया नहीं, बल्कि आत्मा, बुद्धि, मन और वायु की संयुक्त प्रक्रिया है।

अब प्रश्न उठता है कि शब्द का वास्तविक स्वरूप क्या है, वह किस फल को प्रदान करता है और किन पुष्पों से अलंकृत है। इस पर उत्तर दिया गया है कि विद्वान् लोग उस अक्षर को, जो नाशरहित है, परम, पवित्र और शब्दब्रह्मरूप है, सम्यक् रूप से प्राप्त करने की कामना करते हैं। वह शब्दब्रह्म बुद्धिरूप गुहा में स्थित रहता है और शुद्ध प्रयोग के द्वारा ही पूर्ण रूप से प्रकाशित होता है। जब शब्द का प्रयोग शुद्ध और यथार्थ रूप में किया जाता है, तब वह मनुष्य को अभ्युदय और श्रेय—दोनों से युक्त कर देता है। अभ्युदय के अन्तर्गत संसार के लौकिक सुख, शरीर और सम्बन्धियों की समृद्धि आती है, और श्रेय के अन्तर्गत विद्या, सद्गुण तथा अन्तत: मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार शब्द केवल अर्थ प्रकट करने का साधन नहीं है, बल्कि वह मनुष्य को लौकिक और आध्यात्मिक—दोनों प्रकार की उन्नति से जोड़ने वाला तत्व है। इसलिए वर्णोच्चारण की श्रेष्ठ शिक्षा के द्वारा शब्द-विज्ञान में प्रयत्न करना भारतीय ज्ञान-परम्परा में अनिवार्य माना गया है, क्योंकि शुद्ध शब्द ही शुद्ध ज्ञान और शुद्ध जीवन का आधार है।

शब्द का लक्षण :

शब्द का लक्षण भारतीय व्याकरण-परम्परा में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से निर्धारित किया गया है। महाभाष्य के अनुसार शब्द वह है जो श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण किया जाए, बुद्धि द्वारा निरन्तर पहचाना जाए, उच्चारण-प्रयोग से प्रकाशित हो और जिसका अधिष्ठान आकाश हो। अर्थात् शब्द न केवल ध्वनि है, बल्कि वह आकाश में स्थित होकर उच्चारण के द्वारा प्रकट होने वाला बोधात्मक तत्त्व है। इस प्रकार शब्द का अस्तित्व इन्द्रिय, बुद्धि और प्रयोग—तीनों के संयोग से सिद्ध होता है।

वर्णमाला के विषय में कहा गया है कि कुल तिरसठ वर्ण हैं, जो अकारादि स्वरों और व्यञ्जनों में विभक्त हैं। अक्षरसमाम्नाय में कुछ ध्वनियाँ प्रत्यक्ष रूप से उपदिष्ट नहीं हैं, फिर भी वे लोक और वेद-प्रयोग में सुनाई देती हैं। इन्हें अयोगवाह कहा जाता है, क्योंकि ये शास्त्रीय रूप से प्रतिपादित न होते हुए भी वर्णकार्य का

वहन करती हैं। विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, नासिक्य और यम— ये सब इसी वर्ग में आते हैं।

अनुस्वार के विषय में प्राचीन शिक्षाग्रन्थों में ह्रस्व और दीर्घ—दो भेद माने गए हैं। ऋक्तन्त्र, याज्ञवल्क्य-शिक्षा तथा माध्यन्दिन यजुर्वेद-पाठ में इन दोनों भेदों का स्पष्ट विधान मिलता है। कालान्तर में इनके चिह्न और शुद्ध उच्चारण में विकृति आ गई, जिसके कारण आज का प्रचलित उच्चारण प्राय: अशुद्ध माना गया है। इससे यह संकेत मिलता है कि प्राचीन वैदिक परम्परा में ध्वनि-भेदों के प्रति अत्यन्त सूक्ष्म जागरूकता थी।

नासिक्य के स्वरूप को लेकर विभिन्न प्रातिशाख्यों और शिक्षाग्रन्थों में मतभेद पाया जाता है। वाजसनेय और ऋक्तन्त्र में नासिक्य को अयोगवाह माना गया है, किन्तु उसका निश्चित ध्वन्यात्मक रूप सर्वत्र समान नहीं है। कुछ आचार्यों के अनुसार यह सानुनासिक हकार का आगम है, जबकि अन्य शिक्षाकार इसे स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार यमों के विषय में भी स्पष्ट किया गया है कि वे पञ्चम अनुनासिक वर्ण के प्रभाव से उत्पन्न विशेष ध्वनियाँ हैं, जो स्पर्श वर्णों के मध्य आगम के रूप में प्रकट होती हैं।

यमों की संख्या शास्त्रीय रूप से बीस मानी जाती है, क्योंकि पाँचों वर्गों में चार-चार यम सम्भव हैं। यद्यपि इनकी संख्या अधिक है, फिर भी अक्षरसमाम्नाय में इन्हें संकेतात्मक रूप में गिना जाता है। कौशिकी-शिक्षा के अनुसार कुँ, खुँ, गुँ, घुँ आदि में जो उकार है, वह समानस्थानिक ध्वनियों का सूचक मात्र है।

यमों के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती का विचार भारतीय वर्णोच्चारण-परम्परा में विशेष महत्त्व रखता है। उन्होंने मूल सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा का गम्भीर अनुसन्धान करते हुए विक्रम संवत् 1936 में प्रकाशित अपने ग्रन्थ में यमों के स्वरूप पर सूक्ष्म प्रश्न उठाए। उनका स्पष्ट मत था कि यम, चाहे चार माने जाएँ या बीस, स्वतंत्र वर्ण नहीं हो सकते। उनका यह कथन— 'ये वर्णान्तर कभी नहीं हो सकते' उनकी वैज्ञानिक और तर्कप्रधान दृष्टि को प्रकट करता है।

स्वामी दयानन्द का यह निष्कर्ष इस आधार पर है कि पञ्चम अनुनासिक वर्ण परे होने से पूर्ववर्ती ककार, खकार आदि में जो अनुनासिकत्व की प्रतीति होती है, वह किसी नवीन वर्ण की उत्पत्ति नहीं है, बल्कि परवर्ती अनुनासिक वर्ण के उपराग का परिणाम है। जैसे स्फटिक पात्र स्वयं श्वेत होता है, पर उसमें रखे जपाकुसुम के कारण लाल प्रतीत होने लगता है, वैसे ही शुद्ध व्यञ्जन अनुनासिक वर्ण के संसर्ग से अनुनासिक गुण से युक्त प्रतीत होते हैं। यह गुणात्मक प्रभाव है, न कि वर्णान्तर।

यदि यमों को स्वतंत्र वर्ण मान लिया जाए, तो केवल चार यमों की गणना

करना संगत नहीं होगा। तब पाँचों वर्गों में चार-चार यम मानकर उनकी संख्या बीस करनी पड़ेगी। इतना ही नहीं, यूँ, वँ, लँ जैसे रूपों तथा सानुनासिक स्वरों को भी स्वतंत्र वर्ण मानना पड़ेगा, जो न व्याकरणसंगत है और न ही शिक्षा-परम्परा के अनुरूप। इसी भ्रम के कारण कुछ अज्ञानवश लोग वैदिक पाठों में अनावश्यक संशोधन करने लगे, जिससे प्राचीन उच्चारण-परम्परा को क्षति पहुँची।

व्याकरण की दृष्टि से पलिक्क्नी, चख्ख्नुः, जग्ग्मः जैसे शब्दों में मूलतः एक ही ककार, खकार, गकार और घकार होते हैं। द्वित्व का विधान व्याकरण के नियमों से होता है, न कि यम नामक किसी स्वतंत्र वर्ण के कारण। प्रातिशाख्यों में जिन नासिक्य पूर्व वर्णों का उल्लेख यम के रूप में किया गया है, वे वास्तव में अनुनासिक पञ्चम वर्ण के प्रभाव से उत्पन्न पूर्ववर्ती वर्ण के अनुनासिक उपराग के द्योतक हैं। इस प्रकार प्रातिशाख्य और पाणिनीय व्याकरण में विरोध नहीं, बल्कि एकवाक्यता सिद्ध होती है।

इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती का यम-विषयक मन्तव्य युक्तिसंगत और वस्तुस्थिति पर आधारित प्रतीत होता है। यद्यपि वर्णगणना के प्रसङ्ग में यम के नाम का उल्लेख मिलता है, फिर भी तत्त्वतः वे वर्ण नहीं, बल्कि उच्चारणगत विशेषता के सूचक हैं। वैदिक उच्चारण में यह अनुनासिकत्व सूक्ष्म भेद का बोधक है, न कि किसी नए अक्षर का।

अकार आदि अवर्ग वर्ण स्वर कहलाते हैं और कवर्ग आदि वर्गवर्ण व्यञ्जन। स्वर अपने बल पर उच्चरित होते हैं, जबकि व्यञ्जन स्वरों के सहारे व्यक्त होते हैं। जब व्यञ्जन स्वरों से संयुक्त होते हैं, तब उनके विविध रूप प्रकट होते हैं, जिनका अभ्यास लिखकर और पढ़ाकर ही शुद्ध रूप से सम्भव है। महाभाष्य के अनुसार जिन वर्णों के उच्चारण में किसी अन्य वर्ण की सहायता अपेक्षित नहीं होती, वही स्वर कहलाते हैं। इस प्रकार वर्ण, स्वर, व्यञ्जन और यम का यह विवेचन भारतीय वर्णोच्चारण-शिक्षा की सूक्ष्मता और वैज्ञानिकता को भलीभाँति उजागर करता है।

स्वरों की संज्ञा :

स्वरों की संज्ञा का विवेचन पाणिनीय व्याकरण और शिक्षा-शास्त्र में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से किया गया है। पाणिनि के अनुसार अच् स्वर ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—इन तीन भेदों से युक्त होते हैं। उकाल, ऊकाल और उ३काल के द्वारा एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक स्वर-काल का निर्धारण किया गया है। इसी आधार पर ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञाएँ स्थापित होती हैं। यद्यपि सामान्यतः बारह स्वर माने जाते हैं, परन्तु वास्तव में ऋ, ॠ और लृ के समावेश से इनकी संख्या पन्द्रह मानी जानी चाहिए। ॠ और लृ स्वतंत्र स्वर हैं—इसका प्रमाण संस्कृत कोशों और प्रयोगों से मिलता है, जैसे

कृपा, कृकलाश, कृकवाकु आदि शब्द। दीर्घ ॡ का प्रयोग यद्यपि दुर्लभ है, फिर भी उसका सैद्धान्तिक अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण विचार यह है कि यदि ॠ और ॡ स्वतंत्र स्वर हैं, तो संयोगचक्र में उनके उदाहरण कैसे दिए जाएँ। संयोग की परिभाषा के अनुसार, जहाँ स्वरों का व्यवधान न हो और दो या अधिक व्यञ्जन परस्पर जुड़े हों, वही संयोग कहलाता है। अत: ॠ और ॡ के प्रयोग में भी व्याकरणिक दृष्टि से यही नियम लागू होता है।

ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत स्वरों के उच्चारण–काल का निर्धारण शरीरगत प्रमाण से किया गया है। जितने समय में अँगूठे के मूल की नाड़ी एक बार चलती है, उतने समय में ह्रस्व का उच्चारण होता है। उससे दुगुने समय में दीर्घ और उससे तिगुने समय में प्लुत स्वर का उच्चारण करना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन आचार्यों ने उच्चारण को केवल श्रवण पर नहीं, बल्कि शारीरिक अनुभूति पर भी आधारित किया था।

स्वरों के गुणों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का विशेष महत्त्व है। जो स्वर ऊर्ध्व भाग से, अधिक प्रयत्न के साथ, शरीर को तन कर और कण्ठ को संकुचित करके उच्चरित होता है, वह उदात्त कहलाता है। महाभाष्यकार ने इसे आयाम, दारुण्य और कण्ठसंकोच से युक्त बताया है। वेदपाठ में सामान्यत: उदात्त का पृथक् चिह्न नहीं होता, परन्तु उसका बोध उच्चारण से होता है। इसके विपरीत जो स्वर नीचे के भाग से, मृदुता और शिथिलता के साथ, कण्ठ को फैलाकर उच्चरित किया जाता है, वह अनुदात्त कहलाता है। इसमें शरीर के अवयव ढीले रहते हैं और स्वर में कोमलता होती है। वेदपाठ में अनुदात्त स्वर प्राय: नीचे की रेखा से सूचित किया जाता है।

उदात्त और अनुदात्त के संयोग से जो स्वर उत्पन्न होता है, वह स्वरित कहलाता है। पाणिनीय परम्परा के अनुसार स्वरित स्वर की आदि आधी मात्रा उदात्त और शेष अनुदात्त होती है। उदाहरण के रूप में 'कन्या' शब्द में दीर्घ 'आ' स्वरित है, जिसमें यह विभाजन स्पष्ट रूप से देखा जाता है।

स्वरों के साथ गुरु और लघु की संज्ञा भी जुड़ी हुई है। ह्रस्व स्वर सामान्यत: लघु कहलाता है, परन्तु यदि उसके बाद दो या अधिक व्यञ्जनों का संयोग आ जाए, तो वही ह्रस्व गुरु संज्ञा को प्राप्त कर लेता है। जैसे 'विप्र:' शब्द में इकार ह्रस्व होते हुए भी गुरु है, क्योंकि उसके बाद प् और ् का संयोग है। दीर्घ स्वर स्वभावत: ही गुरु कहलाता है।

संयोग की परिभाषा यह है कि स्वरों के व्यवधान से रहित, परस्पर लगे हुए व्यञ्जनों का समूह संयोग कहलाता है। इसी के आधार पर छन्द, मात्रा और उच्चारण

का विधान किया जाता है।

व्यञ्जन का लक्षण महाभाष्य में स्पष्ट किया गया है कि जिनका उच्चारण स्वर की सहायता के बिना सम्भव नहीं है, वे व्यञ्जन कहलाते हैं। स्वर स्वयं प्रकाशमान होते हैं, जबकि व्यञ्जन स्वरों के सहारे ही व्यक्त होते हैं।

इसके अलावा उच्चारण करने वालों के गुणों का भी उल्लेख किया गया है। वर्णों के उच्चारण में मधुरता, अक्षरों की स्पष्टता, पदों का ठीक-ठीक विभाजन, सुन्दर स्वर, धैर्य और लय की समझ—ये सभी एक उत्तम पाठक के गुण माने गए हैं। इसके साथ ही ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा आभ्यन्तर-बाह्य प्रयत्नों के अनुसार अपने-अपने स्थान से शुद्ध उच्चारण करना आवश्यक है। सत्य भाषण और संयम भी उच्चारण की शुद्धता के नैतिक आधार माने गए हैं।

निष्कर्षत: भारतीय ज्ञान-परम्परा में वर्ण, स्वर, व्यञ्जन और शब्द केवल ध्वनियाँ नहीं हैं, बल्कि वे ज्ञान, अर्थ और ब्रह्म से सम्बद्ध सूक्ष्म तत्त्व हैं। वर्णों का उद्‌भव आत्मा, बुद्धि, मन, वायु और आकाश के संयुक्त प्रयत्न से होता है, जहाँ नाद क्रमश: विभक्त होकर शब्द और वर्णरूप में प्रकट होता है। स्वर स्वतंत्र रूप से उच्चरित होते हैं और व्यञ्जन स्वरों के आश्रय से व्यक्त होते हैं। स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद उच्चारण-काल पर आधारित हैं, जबकि उदात्त, अनुदात्त और स्वरित उनके ध्वन्यात्मक गुण हैं, जिनसे वेदपाठ और अर्थबोध की शुद्धता सुनिश्चित होती है। गुरु-लघु, संयोग और अनुनासिकत्व जैसे सिद्धान्त उच्चारण की सूक्ष्मता को स्पष्ट करते हैं। यम, अनुस्वार और नासिक्य जैसे तत्व स्वतंत्र वर्ण नहीं, बल्कि उच्चारणगत विशेषताएँ हैं, जिनका उद्देश्य अर्थ की रक्षा और शुद्ध पाठ है। इस सम्पूर्ण परम्परा का सार यह है कि शुद्ध वर्णोच्चारण से ही शुद्ध शब्द, शुद्ध शब्द से यथार्थ ज्ञान और यथार्थ ज्ञान से लौकिक-आध्यात्मिक उन्नति सम्भव है; अत: शिक्षा-शास्त्र भारतीय बौद्धिक और आध्यात्मिक साधना की आधारशिला है।

☆☆☆